आचार्योपासनम्, अर्थात् सद्गुरु का पादाश्रय ग्रहण करने की विशेष महिमा है, क्योंकि सद्गुरु के उपदेश बिना अध्यात्म में उन्नति नहीं हो सकती। पूर्ण दैन्यभाव से गुरु की शरण में जाकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसे शिष्य को श्रीगुरुदेव अपनी कृपा-सुधा-कादम्बिनी से आप्यायित कर देते हैं। गुरु श्रीकृष्ण के बाह्य-प्रकाश हैं। अतः यदि वे शिष्य पर कृपा करें तो विधिपालन के बिना ही वह तुरन्त उन्नति कर सकता है। जिसने सब प्रकार से गुरु की निष्कपट सेवा की है, उसके लिए विधि-विधान का पालन सुगमतर हो जाता है।

पारमार्थिक साधना के लिए **शौच,** अर्थात् बाहर-भीतर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नानादि से हो जाती है, परन्तु भीतर की शुद्धि के लिए नित्य श्रीकृष्ण का चिन्तन और **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे** महामन्त्र का कीर्तन करना आवश्यक है। इस साधन के द्वारा पूर्वकर्म रूपी मल से चित्त का मार्जन हो जाता है।

भगवत्प्राप्ति के दृढ़ निश्चय का नाम **स्थैर्यम्** अथवा 'स्थिरभाव' है। इस निष्ठा के बिना यथार्थ प्रगति नहीं हो सकती। **आत्मविनिग्रहः** (संयम) का भाव यह है कि ऐसा कोई पदार्थ ग्रहण न करे, जो भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के प्रतिकूल हो। इसका अभ्यस्त होकर उन सभी प्राणी-पदार्थों को त्याग देना चाहिए, जो पारमार्थिक उन्नति के अनुकूल न हों। यही सच्ची त्याग-वृत्ति है। प्रबल इन्द्रियाँ सदा विषयभोग के लिए लालायित रहती हैं। इनकी अनावश्यक माँगों को पूर्ण करना उचित नहीं। इन्द्रियों की उतनी ही तृप्ति करनी चाहिए, जितना भगवत्प्राप्ति के पथ में उन्नति के लिए देह को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हो। सब इन्द्रियों में रसना सबसे दुर्दमनीय है। यदि इस एक इन्द्रिय का निग्रह हो जाय तो अन्य सब इन्द्रियों का संयम सुगमता से हो सकता है। रसना के दो कार्य हैं—रसग्रहण और बोलना। अतएव इसे नियमित रूप से निरन्तर कृष्णप्रसान-ग्रहण और हरेकृष्ण कीर्तन में तत्पर रखना चाहिये। नेत्रों के द्वारा श्रीकृष्ण के मधुर विग्रह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखने योग्य नहीं है। इससे नेत्रों का भी संयम हो जायगा। इसी भाँति, कर्णों को कृष्णकथा के श्रवण में और घ्राणेन्द्रिय को श्रीकृष्ण को अर्पित पुष्पों के आघ्राण में नियोजित रखे। यह भक्तियोग का पथ है और भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से इसी भक्ति-विज्ञान का विशद प्रतिपादन है। अस्तु, भक्तियोग ही भगवद्गीता का एकमात्र प्रयोजन है। गीता के मूढ़ व्याख्याकार पाठक का चित्त अन्य विषयों में भ्रमित करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वास्तव में तो भगवद्गीता में भक्तियोग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इस देह को अपना स्वरूप मानना **अहंकार** अथवा 'मिथ्या अभिमान' कहलाता है। देह से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जान लेना सच्चा अहंभाव है। अहंभाव सदा रहता है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। इसलिए मिथ्या अहंकार की ही निन्दा की गयी है, सच्चे अहंभाव की नहीं। वेदों में कहा है, **अहं ब्रह्मास्मि**, अर्थात् 'मैं ब्रह्मतत्त्व आत्मा हूँ।' यह 'अहंभाव' स्वरूप-साक्षात्कार की मुक्तावस्था में भी रहता है, क्योंकि यह सत्य है। किन्तु जब अनित्य देह में अहंभाव हो जाता है, तो उसे मिथ्या-अहंकार कहते हैं। सत्य में आत्म-भाव (अहंभाव) का होना ही सच्चा अहंकार